प्रियकांत

प्रताप सहगल

प्रियकांत

प्रताप सहगल

अपने दोस्त बाब के लिए
जो अब इस दुनिया में नहीं है
पर इस उपन्यास में है।

पूर्व-कथ्य

ग्यारह साल बाद आ रहा है मेरा यह दूसरा उपन्यास-'प्रियकांत'।

पहले उपन्यास 'अनहद नाद' में एक ऐसे बच्चे के युवा होने तक की विकास-यात्रा है, जिसने अपनी आँखें भारत-विभाजन के आसपास खोली थीं। विभाजन से 1970 तक की यात्रा में बनते हुए भारत को उसने जिज्ञासा-भरी निगाहों से देखा। कुछ समय, समाज और कुछ ख़ुद को पहचानने, समझने की कोशिश की।

1970 के बाद के भारतीय समाज में दो बातें ऐसी घटित हुई हैं, जिन्होंने विकास के साथ-साथ मूल्यों को पहले की अपेक्षा और भी तेज़ी से क्षरित किया है।

पहली बात है हमारी राजनीति का अपराधीकरण। ऐसी नहीं कि आपराधिक मनोवृत्ति के लोग उससे पहले राजनीति में नहीं थे, लेकिन आपातकाल के दौर में यह अपराधीकरण इतनी तेज़ी से हुआ कि उससे कोई भी राजनीतिक दल अछूता नहीं रहा। उसके दुष्परिणाम भारतीय समाज अभी भी भुगत रहा है और अभी भी राजनीति आपराधिक सोच से विलग नहीं हुई है।

दूसरी बात जो हमारे समाज ने देखी है, वह है धर्मगुरुओं और धर्माचार्यों का मूल्यहीन एवं दिशाहीन उदय। साठ और सत्तर के दशक में और बाद के समय में एक अंतर तो स्पष्ट रूप से लक्षित किया जा सकता है। बाद के समय में सभी छद्मावरण उतार दिए गए और धर्म के नाम पर खुला नंगा नाच सामने आया।

इन दोनों ही प्रवृत्तियों में उफान के लिए हमारे दो बड़े राजनीतिक दल ज़िम्मेदार हैं।

'प्रियकांत' में दूसरी प्रवृत्ति के एक धर्माचार्य के उदय को रेखांकित करते हुए कुछ बिंदुओं को पकड़ने और उन्हें समझने की कोशिश की गई है।

धर्मगुरुओं एवं धर्माचार्यों के इस तूफ़ानी विस्तार से मैं भी उतना ही हतप्रभ हूँ, जितने आप। यह उपन्यास इस तूफ़ानी विस्तार की पूरी प्रक्रिया का दस्तावेज़ नहीं है। यह तो बस नब्ज़ देखकर एक बीमारी को समझने की कोशिश-भर है।

-प्रताप सहगल

एफ-101, राजौरी गार्डन
नई दिल्ली-110027
30 अप्रैल, 2010

प्रियकांत

प्रियकांत ने आर्यसमाज के प्रचारक के रूप में आज अपनी तैयारी पूरी कर ली थी। प्रियकांत को 'सुमुख' या 'प्रियदर्शी' भी कहा जा सकता था। तर्कशील तो वह था ही। प्रचारक बनने की तैयारी करते हुए वह कई अन्य प्रचारकों से टकराया भी था। वेदों एवं वेदांगों तथा दूसरे धर्मों के आधारग्रंथों का भी उसने जमकर अध्ययन किया था। कहीं भी बहस करते हुए वह अपनी स्मरणशक्ति का सिक्का जल्दी ही जमा लेता। वेदों के सूक्त, स्मृतियों के छंद, उपनिषदों के श्लोक और 'सत्यार्थ प्रकाश' के कई अंश उसे कंठस्थ थे। इतना ही नहीं, वह बहस करते हुए कुरान की आयतें एवं बाइबिल के वर्स या फिर बौद्ध और जैन साहित्य के कई प्रसंग इस तहर से लाता कि सामने बात करने वाले के छक्के छूटने लगते।

गुरुकुल से लेकर आर्यसमाज की यात्रा तक, मुख्य रूप से तो उसे यही सिखाया गया था कि सभी ज्ञानों का स्रोत वेद हैं। कहीं और किसी से भी शास्त्रार्थ करते हुए अंतिम साक्ष्य वेदों को ही मानना चाहिए। 'सत्यार्थ प्रकाश' का गहन अध्ययन करने से उसकी खंडनशील प्रवृत्ति प्रबल हो गई थी। धीरे-धीरे उसका पूरा रुझान केवल वेदों तक ही हो गया था।

प्रियकांत में सभी वे गुण थे, जिनकी अपेक्षा एक प्रचारक से की जाती है। 'कृण्वंतो विश्वम् आर्यम्' उसका महामंत्र था। प्रचारक बनने की कला उसने स्वामी विद्यानंद से सीखी थी।

अपने शिष्य को दीक्षा देते समय स्वामी विद्यानंद ने उससे कहा था-''तुम्हारे पर एक बड़ा ऋण है प्रियकांत!''

''कौन-सा ऋण गुरुजी ?''

''आर्यसमाज का ऋण।''

आपने आज तक तो मुझे केवल ऋण-त्रय ही समझाए हैं गुरुदेव!'' प्रियकांत ने कहा था।

''हाँ, वो सब ऋण तो तुम उतार ही दोगे, लेकिन यह एक नया ऋण मैं तुम्हारे कंधों पद लाद रहा हूँ।''

''आदेश दें गुरुदेव!''

''आर्यसमाज का ऋण मुझ पर भी था प्रियकांत! मुझे जीवन में अनेक शिष्य मिले। उन्होंने अपनी-अपनी तरह से गुरु-दक्षिणा भी दी, लेकिन तुमसे मैं अलग प्रकार की गुरु-दक्षिणा की अपेक्षा करता हूँ।''

''आदेश दें गुरुदेव!''

''तुम्हें स्वामी दयानंद एवं आर्यसमाज एवं आर्यसमाज का ऋण उसी तरह से उतारना है, जिस तरह से स्वामी दयानंद ने अपने गुरु स्वामी विरजानंद का ऋण उतारा।''

''इसके लिए मुझे क्या करना होगा गुरुदेव ?''

''प्रचार! आर्यसमाज के सिद्धांतों का प्रचार। देश-विदेश के कोने-कोने में जाओ।...देखो, आज वैसा ही अनाचार है, वैसी ही जात-पात की कलह, वैसे ही धार्मिक अंधविश्वास, जैसे वे मनुष्य के विकास के आदिकाल में थे, मध्यकाल में रहे। तुम तो जानते ही हो कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्वामी दयानंद ने ही अंधविश्वासों के ख़िलाफ अपनी आवाज़ बुलंद की थी। आज फिर उसी आवाज़ को दोहराने का वक़्त आ गया है प्रियकांत! वेदों का डंका एक बार फिर बजे, तुम उसके माध्यम बनो...मुझे तुमसे यही अपेक्षा है।''

''आपका आदेश शिरोधार्य है गुरुदेव!'' कहकर प्रियकांत अध्ययन की दुनिया से प्रचार की दुनिया में प्रवेश कर गया।

प्रियकांत सुमुख तो था ही, लेकिन उसके व्यक्तित्व में कुछ अलग भी था। यह बात उसके सहयोगी मित्र एवं उसके गुरु तो कहते थे, वो स्वयं भी यह बात जानता था। उसे संगीत का अच्छा ज्ञान था और वह स्वयं भक्ति गीत भी लिख लेता। ख़ुद ही उनकी धुनें बनाकर जब वह अपने सुमधुर कंठ से सुनाता तो लगता कि प्रार्थनाओं के झरने बहने लगे हों। तभी न गुरुदेव ने उसे ही इतने बड़े काम का बीड़ा सौंपा था। इतने गुणों के मालिक किसी भी व्यक्ति का यह महसूस करना कोई बड़ी बात नहीं कि वह औरों से कुछ अलग है। कुछ क्यों, बहुत अलग है। उसकी अपनी अलग पहचान है। ऐसा प्रियकांत को भी लगा। अपनी अलग पहचान! वह सोचता कि यही 'अलग पहचान' ही तो व्यक्ति के महत्व को स्थापित करती है। उसे महत्वपूर्ण से महत्वपूर्णतर बनाती है। उसने मन ही मन निर्णय कर लिया था कि वह प्रचार की दुनिया में अपनी अलग पहचान लेकर उतरेगा और अलग पहचान स्थापित करके ही दम लेगा।

अलग पहचान बनाना वस्तुतः प्रियकांत की खूबी थी और उसकी कमज़ोरी भी। क़तार में खड़े होकर बढ़ना उसे पसंद नहीं था। क़तार में खड़े व्यक्ति की पहचान मात्र क़तार ही होती है, लेकिन क़तार से बाहर खड़ा आदमी तुरंत पहचाना जाता है। वह क़तार में खड़ा नहीं होगा।